हिंसा के विरुद्ध शिक्षा कैसी हो

अपूर्वानन्द

जयपुर के अपने दोस्तों का मैं बहुत शुक्रगुजार हूं कि उन्होंने आज यह मौका मुझे दिया है कि मैं प्रो. हेमलता प्रभु की स्मृति में होने वाली व्याख्यान शृंखला में हिस्सा ले सकूं। मेरे लिए यह बहुत गर्व की बात है और एक तरह से इस अवसर पर मैं काफी दबा हुआ भी महसूस करता हूं। वह इसलिए कि आज जब मैं यह देखता हूं या पिछले सात वर्षों से मैं हर समय देखता आया हूं, हर साल इस वक्त कि कविता श्रीवास्तव और कविता श्रीवास्तव की मित्र और उनसे पहले की पीढ़ी की मित्र कितनी ज्यादा सक्रिय हो जाती हैं और कितने उत्साह और दिलचस्पी के साथ मिस प्रभु के जन्म दिन को मनाने के लिए इकट्ठा होती हैं तो मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता है एक अध्यापक की तरह कि क्या ऐसा हम लोगों के साथ हो पाएगा?

इससे जैसा मैंने कहा कि बहुत विनम्रता का बोध होता है। यह इसलिए कि यह यात्रा जो मिस प्रभु ने शुरू की, जिसके बारे में जयपुर के सारे लोग जानते हैं। उस यात्रा में अपने-आपको भागीदार समझने वाले जबकि उन पर कोई दबाव नहीं है किसी प्रकार का, मिस प्रभू को याद करने की कोई मजबूरी नहीं है, कोई बाध्यता नहीं है। ना तो जाति की बाध्यता है, ना धर्म की बाध्यता है, ना भाषा की बाध्यता है। फिर भी स्वेच्छा से और सिर्फ स्वेच्छा से ही नहीं बल्कि मोहब्बत से जिसकी बात अभी अरूणा जी ने की, कि यह दरअसल एक उत्सव है रिश्तों का और इस उत्सव को बनाए रखना और इसके उत्साह को बनाए रखना हमारे समय में एक चुनौती है। और इसीलिए मेरी यह समझ है कि हमें कभी भी किसी अंतिम मुकाम की प्रतिक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि हम दरअसल हर समय एक तरह का क्षण निर्मित करते हैं। और उस क्षण में जीते हैं और उस क्षण के प्रति हमारा दायित्व होता है कि उसे कितनी जिम्मेदारी के साथ हम निभा रहे हैं, कितने उत्साह के साथ हम निभा रहे हैं। इससे जीवन के होने का प्रमाण मिलता है और इसलिए इस उत्सव में शामिल होकर मुझे बहुत अच्छा लग रहा है। मुझे लग रहा है कि मैं खुद इस पूरे समुदाय का एक सदस्य हो गया हूं, और मुझे दावत दी गई है। और इस दावत पर मैं उत्सव में शामिल हूं। इसके लिए मैं फिर आपका बहुत-बहुत शुक्रगुजार हूं।

अरूणा जी ने बतलाया और यह कहा गया कि आज का दिन इसलिए खास है कि यह मिस प्रभु का जन्मदिन है, उसके साथ पण्डिता रमा बाई का है और उसके साथ शेक्सपीयर का है। शेस्सपीयर चार सौ साल पहले, पण्डिता रमा बाई तकरीबन दो सौ साल और मिस प्रभू सौ साल। तो आप देख सकते हैं कि ये इतिहास के अलग-अलग बिन्दु हैं आप इन्हें मील के पत्थर भी कह सकते हैं। और शेक्सपीयर की जो चिंताएं थीं वे मिस प्रभू में किस तरह प्रवाहित हो रही थीं। मिस प्रभू में जो चिंताएं प्रवाहित हो रही थीं वे हो सकता है अनजाने ही वही हों जो पण्डिता रमा बाई मे हो रही थीं। क्योंकि जयपुर में लड़कियों के लिए एक कॉलेज की स्थापना करना और पण्डिता रमा बाई का पुणे के पास लड़कियों के लिए एक बहुत बड़ा आश्रम स्थापित करना। इन दोनों में कोई समानता है? इसके बारे मिस प्रभु ने सोचा हो या नहीं सोचा हो, लेकिन हम सब

इस रिश्ते को जरूर देख सकते हैं। जब कविता ने मुझे आज के इस कार्यक्रम के बारे में कहा, बताया और आदेश दिया, क्योंकि कविता श्रीवास्तव आदेश देने के अलावा कुछ नहीं कर सकती हैं कि एक व्याख्यान देना है और मैं उसके विषय के बारे में सोचने लगा तो मेरे मन में जो विषय आया वह था, 'हिंसा के विरुद्ध शिक्षा कैसी हो'। यह संयोग नहीं है कि शेक्सपीयर का नाम इस संदर्भ में याद आया। क्योंकि शेक्सपीयर की एक मुख्य चिंता हिंसा थी। मनुष्य के अन्दर बैठी हुई हिंसा। बार-बार शेक्सपीयर के नाटकों में, उनकी रचनाओं में यह चिंता घूम-घूम कर आती है। वे मनुष्य के उस अंधेरे कोने को देखना चाहते हैं जहां यह प्रवृत्ति छिपी हुई है, जिसे हम हिंसा की प्रवृत्ति कहते हैं। उसको वे टटोलना चाहते हैं, उसको कुरेद कर देखना चाहते हैं कि यह है क्या चीज? और मनुष्य हिंसक कैसे होता है? और स्वयं जब उसे पता चलता है कि वह हिंसक है तो उसका सामना कैसे करता है? यह शेक्सपीयर की रचनाओं की एक मुख्य चिंता थी। हिंसा एक बहुत व्यापक शब्द है। हम घर में हिंसा होते हुए देखते हैं, हम भाषायी हिंसा होते हुए देखते हैं, सड़क पर चलते हुए दो लोगों को एक-दूसरे से उलझ जाते देखते हैं, वह भी हिंसा है। और अनेक प्रकार की हिंसाएं हम देखते हैं, इसलिए हिंसा एक बहुत व्यापक शब्द है। राजस्थान के लोगों को अभी कुछ दिन पहले दो अप्रैल को राजस्थान में पूरे भारत की तरह ही जो बन्द हुआ, उस बन्द के दौरान की हिंसा और उस हिंसा की खबरें उनके दिमाग में होंगी। उस पर हम आगे बात करेंगे। लेकिन मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूं कि हिंसा शब्द के साथ खतरा यह है कि हम इसे इतना ज्यादा खींच न दें कि इसका कोई अर्थ ही न रह जाए। यानी जब हम हिंसा की बात करने लगें तो हम भूल जाएं कि हमें दरअसल इस वक्त समाज का ध्यान हिंसा के किस रूप की ओर दिलाना है? और समाज को हमें क्यों हिंसा के प्रति सचते करना है? और क्यों यह कहना है कि उसे हिंसा से बाज आना चाहिए? तो इसलिए पहली जिम्मेदारी हमारी यह होती है कि हम हिंसा को उसका अर्थ खो देने से बचाएं। और हिंसा को इतना ज्यादा खींच ना दे कि फिर हम उस पर बात ही ना कर सकें। क्योंकि यह खतरा है कि आप जैसे ही एक हिंसा पर बात करने लगें आप से कहा जाए कि देखिए घर में पति-पत्नी पर हिंसा करता है, सास बहु पर हिंसा करती है, सड़क पर चलने वाले लोग एक-दूसरे के खिलाफ हिंसा करते हैं और तब आप पूरी तरह से भ्रमित हो जाएंगे कि आखिर हम हिंसा पर बात कैसे करें?

लेकिन मैं यहां एक निश्चित संदर्भ में हिंसा पर बात करना चाहता हूं। अभी कुछ दिन पहले- यहां नौजवान दोस्त बैठे हुए हैं और वरिष्ठ मित्र भी बैठे हुए हैं। अभी कुछ दिन पहले पूरी दुनिया में एक दिवस मनाया गया। उस दिवस का नाम है 'होलोकास्ट डे'। अब आप सबने उसके बारे में पढ़ा होगा। यूरोप में, अमेरिका में, इज़राइल में और पूरी दुनिया में होलोकास्ट डे मनाया गया। होलोकास्ट डे के बारे में हम सब लोग जानते हैं। यह बीसवीं शताब्दी की बहुत भीषण, सबसे भीषण मानवीय त्रासदी मानी जाती है। होलोकास्ट को सरल ढंग से यह कहा जा सकता है कि यह यहूदियों का कत्लेआम था। यहूदियों का कत्लेआम जो तयशुदा तरीके से किया गया था। बिलकुल वैज्ञानिक तरीके से नियोजित करके किया गया था। जिसके पीछे यह भावना थी, जिसे हिटलर ने कहा था कि यह दरअसल फाईनल सोल्यूशन है। आखरी समाधान है, आखिरी निपटरा भी आप उसे कह सकते हैं। होलोकास्ट उसका नतीजा था। यानी अगर समझने की भाषा में कहा जाए तो उसे यहूदियों का कत्लेआम कहा जाएगा। लाखों यहूदी मारे गए। जर्मनी में, पोलैण्ड में, आस्ट्रिया में पूरे यूरोप में और यूरोप से यहूदयों का पलायन हुआ। एक तरह से यूरोप ने यहूदियों को निकाल दिया। लेकिन हम होलोकास्ट के क्षण पर लौटते हैं। यह जो कत्लेआम हुआ यहूदियों का इस कत्लेआम में जो तकनीक अपनाई गई, उसे वैज्ञानिक कहा जा सकता है। यानी हिटलर ने यह तलाश करने की कोशिश की कि कम से कम खर्च में ज्यादा से ज्यादा यहूदियों को कैसे मारा जा सकता है। और इसके लिए उसने वैज्ञानिकों से सहायता ली। और वैज्ञानिकों ने हिटलर की मदद की। और उसके नतीजे में वे चीजें इजाद हुईं, जिनको हम जानते हैं। उन्हें हम गैस चैम्बर्स कहते हैं। या कोन्सन्ट्रेशन कैम्प्स कहते हैं।

इन कोन्सन्ट्रेशन कैम्प्स में यहूदियों को इकट्ठा किया गया और इनसे श्रम करवा कर उत्पादन कराया गया। और जब ये उत्पादन के लायक नहीं रहने लगे तब इन्हें खुद अपनी कब्र खोदने के लिए कहा गया और फिर उन कब्रों में इन्हें मारकर दफन किया गया। लेकिन यहूदी बहुत सारे थे और उसमें से एक तरीका यह था, दूसरा तरीका गैस चैम्बर का

था। जिसके बारे में हम सारे लोग जानते हैं कि गैस चैम्बर में यहूदियों को ले जाकर और फिर उन पर गैस की वर्षा करके उन्हें मार दिया गया। इस पर कई फिल्में बनी हैं। एक फिल्म का एक बहुत मार्मिक दृश्य है जिसमें एक बच्चे को ले जाया जा रहा है, गैस चैम्बर में। और उसे यह पता चलता है कि दरअसल वह नहाने जा रहा है, जब उसके कपड़े उतरवा दिए जाते हैं तो उसे लगता है कि वह सबके साथ नहाने जा रहा है। तो गैस चैम्बर में सारे लोग एक तरह से भाप होकर उड़ जाते हैं। यह जो गैस चैम्बर्स बने या ये जो कोन्सन्ट्रेशन कैम्प्स बने, इनमें कुछ कोन्सन्ट्रेशन कैम्प हैं जो मानवीय स्मृति में टके रह गए हैं। उनमें से एक कोन्सन्ट्रेशन कैम्प सबसे कुख्यात माना गया दूसरों के साथ जिसका नाम है, ओश्वित्स। और इस ओश्वित्स को लेकर बहुत सारी कविताएं लिखी गई हैं और बहुत कुछ लिखा गया है। लेकिन ओश्वित्स और शिक्षा के संबंध को लेकर यूरोप के एक दार्शनिक ने जिन्हें हिटलर की वजह से ही और यहूदी विरोध की वजह से ही अपना देश छोड़ना पड़ा था 'थ्योडोर एडोर्नो'। उन्होंने एक लेख लिखा 'एज्यूकेशन आफ्टर ओश्वित्स'। और उन्होंने उस लेख शुरुआत जैसे की उसे मैं पढ़कर फिर आगे अपनी बात कहना चाहता हूं।

ओश्वित्स या यहूदियों का कत्लेआम एक ऐसी समस्या है यूरोप के लोगों के लिए, जर्मनों के लिए, जिस समस्या पर विचार आज तक खत्म नहीं हुआ है। यानी यह प्रश्न कि आखिर ये कैसे हो सका कि लाखों यहूदियों को, लाखों भले आदमियों के रहते हुए कत्ल किया जा सके? यह प्रश्न कि क्या हिटलर एक अपवाद था? या हिटलर दरअसल जर्मन समाज की एक स्वाभाविक पैदाइश थी? यह प्रश्न कि आखिर ओश्वित्स को होने से रोका क्यों नहीं जा सका? और उससे यह प्रश्न पैदा हुआ कि क्या दुबारा ओश्वित्स हो सकता है? और अगर दुबारा ओश्वित्स के होने की आशंका हो तो क्या उसे रोका जा सकता है? इस चिंता के वशीभूत थ्योडोर एडोर्नो ने एक रेडियो टॉक किया। और ये रेडियो टॉक उन्होंने 1960 के दशक में दिया, 1965 के आस-पास। और बाद में यह लेख की शक्ल में आया। इसका नाम है 'एज्युकेशन आफ्टर ओश्वित्स'। और मैं इसका शुरुआती हिस्सा अंग्रेजी में ही पढ़ रहा हूं और उसे मैं आपसे गुजारिश करूंगा कि आप ध्यान से सुनेंगे।

> The premier demand upon all education is that Auschwitz not happen again. Its priority before any other requirement is such that I belevive I need not and should not justify it. I can not understand why it has been given so littile concern until now. To justify it would be monstrous in the face of the monstrosity that took place. Yet the fact that one is so barely concious of this demand and the question it raises shows that the monstrosity has not penetrated people's minds deeply, itself a symptom of the continuing potential for its recurrence as far as people's concious and unconcious is concerned. Every debate about the ideals of education is trivial and nconsequential compared to this single ideal: never again Auschwitz.

यह सवाल थ्योडोर एडोर्नो कर सकते थे और यूरोप कर सकता था क्योंकि ओश्वित्स एक बहुत बड़ी त्रासदी थी। यहूदियों की संख्या जो मारे गए लाखों में थी। ओश्वित्स जो अब एक बहुत बड़ा म्यूजियम है आप जब उसमें जाएंगे तो आप उस कत्लेआम की भयावहता से सिहर जाएंगे। सोमदत्त ने एक बहुत मार्मिक लम्बी कविता इस पूरे कत्लेआम पर लिखी है- ''हजारों जूते, नन्हे जूते एक के ऊपर एक रखे हुए थे।'' अगर आप उन्हें एक साथ देखें तो आपको उन नन्हे पैरों की याद आएगी, जिन्होंने कभी इन्हें पहिना था। जिन पैरों से इनको उतार लिया गया और जिनको गैस चैम्बर में डाल दिया गया। जिनको अपने माता-पिता से अलग किया गया। पिता को यह देखकर कि क्या उसका शरीर इतना मजबूत है कि वह मजदूरी कर सकता है और माता किस काम के लायक है। बालों को देखकर कि इन बालों का क्या इस्तेमाल हो सकता है और दांतों का क्या इस्तेमाल हो सकता है और दांतों में जो सोने के नकली दांत हों या चादी के नकली दांत हों उनको निकाल कर और फिर उनका क्या इस्तेमाल हो सकता है। या फिर मनुष्य की चमड़ी का क्या इस्तेमाल हो सकता है। यह सब कुछ आपको ओश्वित्स के म्यूजियम से गुजरते हुए याद आ आएगा। यानी उस त्रासदी का एक स्मारक है जो ओश्वित्स है। इसलिए मैं कहता हूं कि ओश्वित्स यूरोप के लिए आप उसे घटना कहें या आप उसे हादसा कहें या आप उसे त्रासदी कहें, वह एक जगह जमा हुई है और आप उसे देख सकते

हैं। इसलिए प्रश्न किया जा सकता है कि हमारे सामने चुनौती यह है कि हम इसे दोबारा न होने दें। इस प्रश्न का सामना जर्मनी ने किया और आज तक कर रहा है। पूरे यूरोप ने किया, ध्यान रखिये जर्मनी ने यह नहीं कहा कि इसे भुला दीजिए, जाने दीजिए। ओश्वित्स के बारे में बात मत कीजिए, हिटलर के बारे में बात मत कीजिए, यहूदियों के कत्लेआम के बारे में बात मत कीजिए क्योंकि हमें बुरा लगता है। यह दरअसल हमारे राष्ट्र पर एक चोट है। हमें बुरा लगता है इसलिए याद मत दिलाइए। बल्कि जर्मनी ने और यूरोप ने एक बहुत कठोर निश्चय किया। वह निश्चय यह था कि हम ओश्वित्स को कभी भुलेंगे नहीं और ओश्वित्स को कभी भूलने नहीं देंगे। हम लोगों को यह बताएंगे कि यह सब कुछ कैसे हुआ और जब हम बताएंगे तो हम ब्यौरेवार बताएंगे, जिससे उनको पता चल सके कि यह सब कुछ इंसान ही कर सकते हैं। हमें अक्सर बोलते हुए बोलने की आदत है- ''वह हवान था।'' यह भूलते हुए कि हैवान दरअसल एक शब्द है जो जानवर के लिए इस्तेमाल होता है और जानवर कभी कत्लेआम नहीं करता। कत्लेआम इंसान करते हैं। हमें यह पता है कि जानवर अकारण कभी किसी पर हमला नहीं करता है। अकारण हमला करना इंसान की फितरत है। और इसीलिए हिंसक सिर्फ इंसान हो सकता है। जानवरों को हिंसक कहना हिंसा शब्द का मजाक है और इसीलिए यूरोप ने आज तक ओश्वित्स पर, आज तक होलोकॉस्ट पर, आज तक यहूदियों के कत्लेआम पर फिल्में बनाना बन्द नहीं किया है। आज तक किताबें लिखना बन्द नहीं किया और उनको अपनी पाठ्यपुस्तकों में पूरी तरह जगह दी है। उसने उससे उस तरह आंख नहीं चुराई जैसी खबर हमने आज, कुछ दिन पहले पढ़ी भारत वर्ष में जब 2002 में गुजरात में जो मुसलमानों का कत्लेआम हुआ उसके बारे में एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तक में जब जिक्र हुआ तो लिखा गया मुस्लिम विरोधी हिंसा। लेकिन इधर हमें यह खबर मिली कि किताब में परिवर्तन किया गया है और उसे 'रायट' कह दिया गया है। यानी वह रायट क्या था, जिसके बारे में पहले एनसीईआरटी की किताब कह रही थी कि वो एन्टी मुस्लिम रायट या एन्टी मुस्लिम वायलेंस था। अब जो छात्र उसे पढ़ेंगे वो सिर्फ वायलेंस पढ़ेंगे। जिससे उनको यह अंदाज नहीं हो पाएगा कि यह वायलेंस दरअसल किसके खिलाफ हुआ था। मैं यह सिर्फ इसलिए कह रहा हूं कि आप एक तरफ यूरोप का रवैया देखिए और एक तरफ अपना रवैया देखिए जिसमें यूरोप अपने अतीत के इस पाप की ओर खुली आंख से देखने की हिम्मत कर पा रहा है। और इसीलिए यूरोप में यह प्रश्न उठा, जो थ्योडोर एडोर्नो का प्रश्न था कि क्या हम ऐसी शिक्षा का नियोजन कर सकते हैं जिससे दोबारा ओश्वित्स ना हो? क्या यह किया जा सकता है? यह उनका प्रश्न था। लेकिन मैं जब इस प्रश्न को आज भारत वर्ष के संदर्भ में पूछना चाहता हूं तो मुझे इसमें कई दिक्कतों का सामना करना पड़ता है वह यह कि हमारे पास कोई ओश्वित्स नहीं है। हमारे पास कोई ओश्वित्स नहीं है, इसलिए हमारे पास कोई इतना बड़ा सदमा नहीं है। हम यह कह सकते हैं कि हमारे पास हिंसा का स्मारक नहीं है। लेकिन दूसरी तरफ जिसे जैरुस बाना जी ने कहा कि हमारे पास हिंसा के स्मारक नहीं हों लेकिन हमारे पास हिंसा की धारावाहिकता है। और उस धारावाहिकता को याद रखना बहुत आवश्यक है। उस धारावाहिकता में दरअसल कत्लेआम के वे कीटाणु छिपे हुए हैं, जिन्होंने ओश्वित्स को अंजाम दिया। और इसलिए जैरुस बाना जी यह कहते हैं ये जो धारावाहिक हिंसा है यह दरअसल जनसंहारात्मक है। आप एक मुसलमान को भी मारते हैं तो उसके पीछे मंशा पूरी मुस्लिम आबादी को खत्म कर देने की होती है। आपने कत्ल किया हो भले ही एक मुसलमान का लेकिन आपको सुख मिलता है कि आपने पूरी मुस्लिम आबादी को खत्म करने की दिशा में योगदान किया है और इसलिए यह हिंसा सिर्फ एक आदमी को मारने की हिंसा नहीं है और जनोसाइट के लिए जो तकनीकी आधार होते हैं यानी इतने हजार लोगों का मरना आदि, आदि, आदि उसकी आवश्यकता नहीं है। इसको समझना जरूरी है कि यह हमला या यह हत्या इस इरादे से की गई और इसके पीछे एक संगठित इरादा है जो इरादा है कि मुसलमानों का सफाया हिन्दुस्तान से कर दिया जाए। और उस जनसंहारात्मक इच्छा की अभिव्यक्ति आपको अभी कुछ दिन पहले एक ऊंची कंपनी के एक कर्मचारी की उस ट्वीट से मिली जिसमें उन्होंने कहा कि मैंने ओला के एक ड्राइवर को इसलिए इंकार कर दिया, उसकी गाड़ी में बैठने से क्योंकि वो मुसलमान था। इसका अर्थ यह है कि अब हमारा देश ऐसी घृणा को खुलकर व्यक्त करने की पूरी तरह से इजाजत दे रहा है। यानी ये घृणा हमारे समाज में स्वीकार्य है। और यह घृणा फिर 1930 के दशक से लेकर 1945 तक कम से कम सक्रिय रूप में हालांकि यूरोप में यहूदी विरोध का और यहूदी विद्वेष का इतिहास शताब्दियों का है और वह आज भी खत्म नहीं हुआ है। लेकिन जो चीज पोलैण्ड में देखी गई, जो

चीज आस्ट्रिया में देखी गई, जो जर्मनी में सबसे ज्यादा देखी गई कि आप चिह्नित कर सकते थे यहूदियों को, बल्कि बाद में आपने यहूदियों को यह कहना शुरू कर दिया कि तुम दरअसल एक खास तरह का बिल्ला लगाओगे, 'पीले रंग का', जिससे हम पहचान सकें कि तुम यहूदी हो। और तुम्हारे साथ हम अपना बर्ताव तय कर सकें। यह चीज अब भारत वर्ष में खुलेआम हो रही है। इस चीज को हमें पहले देखने की आवश्यकता है और इसीलिए मेरे मन में यह प्रश्न है कि यूरोप यह सवाल कर सकता था कि ओश्वित्स कैसे ना हो। यानी जब वह यह सवाल करता है कि ओश्वित्स कैसे ना हो? तो वह क्या कहना चाहता है? कि सामूहिक हत्याएं इस प्रकार की ना हों हम इसका इंतजाम कैसे करें? इस तरह के सामूहिक जनसंहार की इजाजत किसी भी राज्य या किसी भी राजनैतिक दल या किसी भी व्यक्ति को समाज न दे और वह खुद उसमें शामिल ना हो यह कैसे किया जा सकता है? थ्योडोर एडोर्नो के इस पूरे लेख में आप उनकी उलझन देख सकते हैं। क्योंकि एडोर्नो के पास इसका जवाब नहीं है। एडोर्नो यह कह रहे हैं कि यह काम दरअसल बिल्कुल प्राथमिक स्तर से शुरू होना चाहिए, बचपन से। लेकिन उनका कहना यह है कि मुझे नहीं मालूम कि बच्चों की ऐसी शिक्षा कैसे संगठित की जाए, जिसमें हिंसा के प्रति अस्वीकार्यता का भाव शुरू से ही बन जाए।

एडोर्नो की इस दुविधा को शिक्षा के क्षेत्र में लगे हुए जितने लोग है और इस कक्ष में अनेक लोग ऐसे बैठे हुए हैं वे आसानी से समझ सकते हैं कि यह दुविधा उनमें क्यों थी क्योंकि एडोर्नो कुछ और सवाल उठाने चाहते हैं और वो ये हैं और हम उन पर विचार कर सकते हैं कि आखिर हिंसा का कारण क्या है? अगर हिंसा का कारण किसी और के प्रति घृणा है तो फिर समस्या क्या है? वह घृणा क्यों है? क्या वह घृणा इसलिए है कि मैं उसे नहीं जानता? और क्या अगर मेरा उससे परिचय करा दिया जाए तो मेरी घृणा समाप्त हो जाएगी? यानी मैं जब उसे जिसे मैं दूसरा कहता हूं उसे मैं अच्छी तरह से जानने लगूंगा तो क्या मेरे मन में उसके प्रति घृणा खत्म हो जाएगी? क्या मैं उससे आत्मीयता का अनुभव करने लगूंगा? और इसके लिए क्या किया जाना चाहिए? भारत वर्ष में और माफ कीजिएगा मैंने जैसे कहा कि हिंसा को बहुत व्यापक कर दिया जा सकता है लेकिन मैं हिंसा को संकुचित कर रहा हूं। और भारत वर्ष में अभी हिंसा के जो दो स्वरूप सबसे ज्यादा मुखर हैं उन दो स्वरूपों तक ही मैं सीमित करना चाहूंगा। एक, जो मुसलमानों के खिलाफ है और दूसरी जो दलितों के खिलाफ है। मुसलमानों के साथ मैं इसाईयों को भी जोड़ता हूं, लेकिन मैं अभी व्याख्यान में समय सीमा को ध्यान में रखते हुए सिर्फ मुसलमानों के खिलाफ हिंसा तक खुद को सीमित रख रहा हूं। यह समझा जाता है कि हिन्दू दरअसल मुसलमानों को नहीं जानते हैं और इसलिए हमारी कोशिश यह होनी चाहिए कि हम हिन्दुओं को बताएं कि मुसलमान क्या हैं। और इस क्रम में हम उन्हें यह बताना चाहते हैं कि मुसलमान कितने अच्छे हैं। और हम उन्हें यह भी बताना चाहते हैं कि मुसलमान हमारे कितना काम आते हैं। मसलन आपने ऐसी खबरें पढ़ी होंगी और ऐसे लेख पढ़े होंगे कि हिन्दुओं की शादी में जो बनारसी साड़ी सबसे ज्यादा इस्तेमाल होती है, हालांकि आजकल तो अब साड़ी का रिवाज उठ गया और अब बुटीक से वो लहंगे आते हैं जिन्हें बॉलीवुड ने मशूर कर दिया है। जो मुझे पता चला है कि 70 हजार से लेकर 7 लाख तक के हो सकते हैं, लेकिन जो बनारसी साड़ी हिन्दू अपनी शादी में इस्तेमाल करते हैं वे बनारसी साड़ियां मुसलमान बनाते हैं। यह एक तथ्य बताया जाता है। दूसरा तथ्य बताया जाता है कि दशहरा में, दुर्गापूजा में आप जो रावण जलाते हैं उस रावण का मुकुट मुसलमान बनाते हैं या उस रावण का पुतला मुसलमान बनाते हैं। तीसरे आप अक्सर देखते होंगे कि जैसे ही होली आती है या जैसे ही रक्षा बंधन आता है या जैसे ही दिवाली आती है वैसे ही अब आप देख सकते होंगे फेसबुक पर और दूसरी तमाम जगह नजीर अकबराबादी और रहीम और बाकी तमाम लोगों के दोहे और कविताएं और नज़्में आने लगती हैं। जिसमें यह बतलाया जाता है कि देखिए उन्होंने कृष्ण की लीला कैसे गाई है, देखिए उन्होंने होली के बारे में क्या-क्या कहा है। उन्होंने दिवाली के बारे में क्या-क्या कहा है। कहा जाता है देखिए इकबाल ने तो राम को इमाम ए हिन्द कहा है। यह सब कुछ किया जाता है। यह बतलाने के लिए कि एक मुसलमान हिन्दुओं के जीवन में कितना शामिल है और मेरे सामने प्रश्न यह है कि क्या यह सब कुछ बताये जाने से मुसलमानों के प्रति जो घृणा है वो कम हो जाएगी? या मुसलमानों के खिलाफ जो हिंसा है वो कम हो जाएगी? यह एक प्रश्न है और इस प्रश्न को एडोर्नो एक दूसरे ढ़ंग से पूछते हैं। वे यह कहते हैं कि यह कोशिश कि हिंसा का कारण जो हिंसा का शिकार हुआ है हम उसमें खोजने की कोशिश करें, फिजूल है और यह गलत तरीका है। हमारा सारा ध्यान इस वजह से मुसलमानों पर केन्द्रित है और हम

मुसलमानों की अच्छाई को खोज-खोज कर हिन्दुओं के सामने पेश कर रहे हैं। गोया कि मुसलमानों की अच्छाई वह वजह होनी चाहिए, जिसके चलते उनको जिन्दा रहने दिया जाए। नहीं! मुसलमानों में भी जेब कतरे होंगे, मुसलमानों में भी बलात्कारी होंगे, मुसलमानों में भी बदमाश होंगे और मुसलमानों में भी ड्रग माफिया होंगे। इसके बावजूद यानी मुसलमान अच्छाई की खान होंगे तभी उनको भारत वर्ष में जीने का हक होगा। यह सिद्धांत, यह तरीका एडोर्नो के हिसाब से, गलत है। उनका कहना यह है कि आपने ध्यान दरअसल हिंसा के शिकार पर केन्द्रित कर दिया है। जबकि आपका ध्यान उस पर होना चाहिए जो हिंसा कर रहा है। क्योंकि हिंसा का स्रोत वह है और हिंसा का कारण वहां है, हिंसा का करण यह नहीं है। और इस वजह से हम जो दलीलें देते हैं और उसी कारण हमारे पूरे शिक्षा के आयोजन में भी यह दलीलें आने लगती हैं, जिनमें हम ये बताने लगते हैं कि भारतीय संस्कृति में मुसलमानों की हिस्सेदारी कितनी ज्यादा है। भारतीय संस्कृति में ईसाइयों की हिस्सेदारी कितनी ज्यादा है। भारतीय संस्कृति में पारसियों की हिस्सेदारी कितनी ज्यादा है और इस वजह से उन्हें भारत में रहने का हक है। हम यह नहीं कहते कि संस्कृति की आपकी समझ गलत है और भारतीयता की आपकी समझ गलत है। और आप यह कह रहे हैं दरअसल और यह गलती एकाधिक बार गांधी से भी हुई हिन्दुओं को समझाने के क्रम में और मुझे लगता है कि वह सैद्धांतिक गलती है। वह सैद्धांतिक गलती यह है, जब आप ये कहने लगते हैं कि यह मुसलमान भी अपने ही हैं। यह मुसलमान दूसरे नहीं है ये अपने ही हैं। आखिरकार इनमें से ज्यादातर यहीं के थे और इन्होंने धर्म परिवर्तन किया। तो फिर हम तर्क क्या दे रहे हैं? कि उन्हें इसलिए नहीं मारो या उन पर इसलिए हमला न करो क्योंकि तुम्हारी और उनकी शुरुआत कहीं जाकर मिल जाती है। तुम्हारे पूर्वज और उनके पूर्वज कहीं जाकर मिल जाते हैं। और यह तर्क दोषपूर्ण है। क्योंकि इस तर्क से हमें उन मुसलमानों की छंटाई करनी पड़ेगी जो मुसलमान दरअसल असली भारतीय मुसलमान हैं और उन्हें विशेष संरक्षण देना पड़ेगा। दो हिस्से करने पड़ेंगे मुसलमानों के भी! और ईसाईयों के भी। मैं तो यह सरल बात कह रहा हूं। लेकिन सैद्धांतिक तौर पर तब हम क्या कह रहे हैं? कि दरअसल हमें उन्हीं से लगाव महसूस करना चाहिए, जो हमारी तरह के हैं और जो किसी न किसी रूप में किसी न किसी समय वही थे, जो हम हैं। इसलिए अगर इसकी कोई संभावना न हो मेरे और आपके बीच किसी तरह का कोई मिलन का बिन्दु न तो अतीत में रहा हो न भविष्य में होने वाला हो। तब मेरा आपके प्रति क्या रवैया होगा? यह एक समस्या है और इस समस्या पर हम लोगों को विचार करना होगा। हम क्या करें? जैसा मैंने कहा कि मैं इस समस्या को आपके सामने रख रहा हूं। इसका उत्तर नहीं है। इसका उत्तर खोजने की जरूरत है। उसी प्रकार जब हिंसा के विरुद्ध शिक्षा के नियोजन की बात आती है और ठोस ढंग से अगर हम कुछ बातें करना चाहें क्योंकि समय कम है तो प्रश्न उठता है कि क्या हिंसा के ढेर सारे उदाहरण सामने रख कर किया जा सकता है? मसलन क्या हम बटवारे के समय की लोमहर्षक हिंसा की कथाएं सुनाकर लोगों को हिंसा से विरक्त कर सकते हैं? और तब यह सवाल उठता है कि क्या इसका उल्टा असर नहीं हो सकता है? यानी जब आप वे लोमहर्षक कथाएं सुना रहे हों तो जो आप चाहते हैं ठीक उससे उल्टा असर लोगों पर हो रहा हो। दूसरा प्रश्न यह है कि जब इस तरह की कहानियां आप लोगों के सामने पेश करते हैं तो उन कहानियों को पेश कैसे किया जाए? क्योंकि अक्सर हिंसा की इन कहानियों में पराजयों की भी कहानियां शामिल हैं। और हिंसा में दो पक्ष हैं। एक जो हिंसा करता है और दूसरा जो हिंसा का शिकार होता है। हम अभी जिस संदर्भ में बात कर रहे हैं, चूंकि मैंने अपना संदर्भ सीमित कर दिया है। वह हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच का संदर्भ है। और उसमें यदि हम बंटवारे को बार-बार लाते हैं- 1947 को, तो फिर हम एक भ्रम पैदा कर कर रहे हैं। क्योंकि 1947 की हिंसा, 1947 के बाद भारत में होने वाली हिंसा से बिल्कुल अलग हिंसा है और उन दोनों को मिलाने से एक घालमेल पैदा होता है। 1947 तक यह कहा जा सकता है कि हिन्दूओं और मुसलमानों में प्रतियोगिता की एक स्थिति थी, लेकिन 1947 के बाद के भारत वर्ष में उस प्रतियोगिता की कोई स्थिति रह ही नहीं गई। और इसलिए 1947 से बाद की हिंसा को बिलकुल ही अलग ढंग से देखने की जरूरत पड़ेगी। 1961 से जबलपुर में हिंसा का जो यह दौर शुरू हुआ और उसके बाद जैसा मैंने जैरुस के हवाले से कहा कि फिर हमने हिंसा की धारावाहिकता देखी। और हिंसा की इस धारावाहिकता में एक सुविधा यह है कि आप यह कह सकते हैं कि नहीं, यह दरअसल किसी एक सूत्र से जुड़े हुए नहीं है, यह सब अलग-अलग कहानियां हैं। जैसा कि अभी यह कहा जा रहा है कि जम्मू में कठुआ में जो हिंसा हुई उस हिंसा को जब तक आप स्थानीय संदर्भ में नहीं देखेंगे तब तक आप नहीं समझेंगे। यह कहा जा रहा है कि कठुआ में जिस आठ साल की बच्ची के साथ

हिंसा की गई और अंततः उसकी हत्या कर दी गई। उस आठ साल की बच्ची का परिवार बकरवाल घूमंतू आदिवासी मुसलमानों का परिवार है। उसमें यह बताने की कोशिश की जा रही है कि आप बार-बार मुसलमान इस तथ्य को सामने ना लाएं क्योंकि उनमें एक आदिवासी तत्व भी है। और उनका घूमंतू होना एक तीसरा तत्व है और चौथा जमीन का झगड़ा भी एक है। यानी यह बतलाने की कोशिश की जा रही है कि यह बिलकुल एक अलग मसला है और इस हिंसा को, यानी यह जो हिंसा हुई है आसिफा के साथ, इस हिंसा को आप हादिया के साथ जो केरल में हुआ उससे जोड़कर ना देखें। दोनों दो किस्से हैं, दोनों के बीच कोई सूत्र नहीं है। मैं कहने की यह कोशिश कर रहा हूं कि इस धारावाहिकता में एक सुविधा यह है कि आप अलग-अलग जो हिंसाएं हो रहीं है, आप कहें कि उनके बीच कोई रिश्ता नहीं है। इसलिए कोई कहानी नहीं बनती। बल्कि ये अलग-अलग घटनाएं हैं, इनके स्थानीय कारण है और इनके वक्ती कारण हैं। और इसलिए हम अगर इनके पीछे कोई एक संगठन देखने की कोशिश करते हैं तो हमें कहा जाता है आप गलत कर रहे हैं। क्योंकि इसमें स्थानीय वजहें ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। तो इस धारावाहिकता को कैसे समझा जाएं? यह जो हिंसा की धारावाहिकता भारत वर्ष में है और उस धारावाहिकता के पीछे छिपी हुई चालाकी को कैसे समझा जाए? यह चालाकी जो हिन्दुस्तान के राजनीतिक समुदाय में और हिन्दुस्तान के बहुसंख्यक हिन्दू समुदाय में भी घुस गई है। इस तथ्य को कैसे समझा जाए और यह प्रश्न क्यों कभी हिन्दुओं ने अपने-आप से नहीं किया, जो एक कठोर प्रश्न है। वह यह कि क्या कभी उन्होंने इस पर विचार किया है कि वे दरअसल हत्यारों के साथ रह रहे हैं? बहुत दूर न जाएं, 1984 में सिर्फ दिल्ली का वाकया लें, जिसमें तीन हजार से ज्यादा सिखों की हत्या की गई। तीन हजार से ज्यादा सिखों की हत्या करने के लिए औसतन कितने लोग लगे होंगे? उनकी संख्या चालीस हजार भी हो सकती है, बीस हजार भी हो सकती है, तीस हजार भी हो सकती है। यानी वे लोग जो सीधे तौर पर हत्या में शामिल होंगे। किसी ने टायर डाला होगा, किसी ने आग लगाई होगी, किसी ने उसको भागने से रोका होगा, किसी ने घेरा बनाया होगा ताकि वह जलकर वहां मर सके। वे सारे लोग कहां हैं? वे जेल में नहीं है। उनमें से कोई डॉक्टर है, उनमें से कोई व्यापारी है, उनमें से कोई शिक्षक है, उनमें से कोई पाठ्यपुस्तक बना रहा है। मैंने जब एक मिस्टर रस्तौगी की आत्मकथा पढ़ी जो बंटवारे के बाद हिन्दुस्तान आए थे और एनसीईआरटी में ऊंचे पद पर रहकर रिटायर हुए थे। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा कि बंटवारे के समय जब उन्होंने देखा कि एक खूबसूरत मुसलमान औरत के चलते हिन्दू नौजवान अपना असली काम भूल गए, उसकी खूबसूरती के चलते यानी मुसलमानों को मारना तो उन्होंने उस मुस्लिम औरत को मार डाला। यह उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है। उसके बाद उनको गिरफ्तार नहीं किया गया। उन पर मुकदमा नहीं चलाया गया। उन्होंने भारत सरकार की पेंशन ली, सम्मानित जीवन जिया और रिटायर हुए। और स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त हुए। तो यह 1984 हो या भागलपुर हो, या नेल्ली हो, या मुजफ्फर नगर हो, या गुजरात हो। हत्याओं के प्रति हमारे समाज का रवैया क्या है? और क्यों हम हत्यारों के साथ रहने को बुरा नहीं मानते? यह प्रश्न कठुआ के संदर्भ में उठना चाहिए, और मैं उस चालाकी की तरफ आपका ध्यान दिला रहा हूं और यह मेरी आखिरी बात है, वह चालाकी क्या है? कठुआ में कठुआ के निवासी, कठुआ के वकील, जम्मू के वकील यह कह रहे हैं कि नहीं नहीं हम तो उस बच्ची के लिए इंसाफ चाहते हैं। वे यह कह रहे हैं कि हम इंसाफ चाह रहे हैं। वे जो जूलूस निकालते हैं, उसमें लिखा रहता है, 'बच्ची के लिए इंसाफ चाहिए, इसलिए सीबीआई की जांच चाहिए।' लेकिन उसी सांस में वे कहते हैं कि पुलिस साजिश कर रही है। उसी सांस में वे कहते हैं कि कश्मीरी इंफेक्शन घुस गया है। उसी सांस में वे कह रहे हैं। उसी सांस में वे कह रहे हैं कि जो अभियुक्त हैं, उनको फंसाया गया है। अब अगर उलटकर उनसे यह पूछा जाए कि किसी न किसी ने उस लड़की को मारा होगा। पुलिस जैसा कह रही है और पुलिस को शक है कि उसका बलात्कार हुआ है। फोरेंसिक रिपोर्ट यह कहीं नहीं कहती है कि बलात्कार हुआ है या नहीं हुआ है। जो लोग ऐसे मामलों में काम करते हैं वो जानते हैं। यह तय करना आगे की चीज है। लेकिन अगर बलात्कार हुआ है, अगर अपहरण हुआ है, अगर हत्या हुई है तो उसमें कुछ लोग शामिल हैं। वे लोग हिन्दू भी हो सकते हैं। लेकिन आप जो जुलूस निकाल रहे हैं, उसमें आप इस चीज को पहले ही मानने से इंकार कर रहे हैं। क्योंकि आप उसके साथ एक और बात कह रहे हैं कि बकरवाल लोग आपस में ही शादी करते हैं। इसलिए बकरवाल लोगों ने ही यह बलात्कार किया होगा। आप यह भी कह रहे हैं कि रोहिंगिया मुसलमानों ने यह किया होगा। आप यह भी कह रहे हैं कि यह पाकिस्तानियों ने कराया होगा। इसका मतलब आपको ऐसी कोई भी जांच स्वीकार्य नहीं होगी, जिस जांच में अभियुक्त हिन्दू हों। लेकिन हत्या तो किसी

ने की होगी, बलात्कार तो किसी ने किया होगा? और वो हिन्दू हो सकता है। और अगर वो हिन्दू हुआ तो क्या आप धरना देंगे? जैसे जम्मू की औरतें दे रही हैं, कठुआ की औरतें। जैसे मुजफ्फरनगर की औरतों ने आकर गांव के मुहाने पर पुलिस को गांव में घुसने से मना कर दिया। रोक दिया औरतों ने, औरतों का कवच बना दिया गया क्योंकि उन्होंने कहा कि हमारे बच्चे बलात्कार कर ही नहीं सकते हैं। तो यह जो एक इंकार है, जो इंकार हिन्दू समाज के भीतर भारत वर्ष में छिपा हुआ है, जिसमें वह यह कहता है कि वह हिंसा कर ही नहीं सकता है। जबकि वह जानता है कि उसने हिंसा की है। इस विभाजित मन के साथ या इस चालाकी के साथ वह अपना जीवन कैसे जीता है? और यह सामाजिक जीवन किस प्रकार का जीवन है? इस जीवन में शिक्षा अपना हस्तक्षेप कैसे कर सकती है? क्योंकि कई बार संदेह यह पैदा होता है कि दरअसल हिंसा एक तरह से शिक्षा से पैदा हो रही है क्योंकि शिक्षा का जो पूरा आयोजन है, शिक्षा का वह पूरा आयोजन बच्चे को एक सत्ता के अधीन करने के लिए है। नागरिक बनाने के लिए है। और नागरिकता की अगर कोई एक आधिकारिक परिभाषा बाहर मौजूद है तो पूरी की पूरी शिक्षा अपने-आप ही उसी प्रकार के नागरिक तैयार करती है।

तो शिक्षा की यह जो बाध्यता है नागरिक तैयार करने की। यह दरअसल आज्ञाकारी दिमाग तैयार करने की है। यानी हुक्मी बंदे तैयार करने की है। हुक्मी बंदे जो सत्ता है उस सत्ता के समक्ष कभी प्रश्न नहीं कर सकते हैं और जो कभी अपने-आप को देख भी नहीं सकते हैं। जिनसे यह क्षमता छीन ली जाती है कि वो समाज को भी आलोचनात्मक ढंग से देखें और खुद को आलोचनात्मक ढंग से देखें। और इस वजह से वह 1984 हो या 1989 हो या उसके पहले का नेल्लिका हो या 1961 की हिंसा हो या 2013 की हिंसा हो या 1992 की हिंसा हो। इन तमाम हिंसाओं पर कभी भी भारत के शिक्षालयों में और शिक्षालयों को छोड़ दें, बाहर भी हमने इत्मिनान से बात नहीं की है। यह हिंसा कैसे हुई? यह हिंसा कैसे संभव हुई? कैसे हजारों लोग इसमें शामिल हुए? कैसे हजारों लोगों ने हजारों लोगों की हत्याएं कीं? और फिर वे हजारों लोग चैन की नींद कैसे सो रहे हैं? यूरोप ने तो होलोकास्ट में जो शामिल थे वे 90 वर्ष के हो गए, 95 वर्ष के हो गए तब भी उन्हें खोजकर पकड़ा। वे चिले में छिपे हुए हों, लेटिन अमेरिका के किसी देश में जाकर के छिप गए हों, कहीं ओर छिप गए हों, उनको पकड़ा और इंसाफ किया। लेकिन भारत वर्ष ने यह तय किया है, हमें बुरा लगता है, हमें याद मत दिलाओ! और जो याद दिलाता है उसके प्रति हिंसा और ज्यादा भड़कती है। तो मैं अंत करना चाहूंगा एक दूसरे लेखक से जो चीन के लेखक हैं और जो शायद आज के चीन को देखते तो बहुत प्रसन्न नहीं होते। उनका नाम है 'लू शुन'। उनकी एक कहानी है 'एक पागल की डायरी- अ मैड मैन्स डायरी'। उसमें एक व्यक्ति है जो पागल हो जाता है क्योंकि उसको सपने आने लगते हैं कि हर कोई दूसरे को खाने पर आमादा है और उसे ऐसा लगने लगता है कि उसके भाई ने उसकी बहन को खाया है। इस हिंसा को वो चारों तरफ देखता है और उसे पागल घोषित कर दिया जाता है। उस कहानी के अन्त में वह लिखता है कि हमें हजारों साल से इंसानों के गोश्त खाने की आदत पड़ गई है। अभी तक हमारे बच्चे बचे हुए हैं। इन बच्चों को बचा लें। थ्योडोर एडोर्नो भी यही कहते हैं कि बच्चों को बचा लें। लू शुन एक बिल्कुल दूसरे संदर्भ में पागल की डायरी में कहते हैं, बच्चों को बचा लें। यानी उन्हें आदमियों का गोश्त खाने की आदत ना पड़े। हम ऐसी शिक्षा का इंतजाम कर सकें। लेकिन जैसा मैंने कहा कि अभी इस पर हमने कायदे से सोचना भी शुरू नहीं किया है। बावजूद रविन्द्रनाथ ठाकुर के, बावजूद महात्मा गांधी के, बावजूद श्री अरविन्दों के और बावजूद रमाबाई के, बावजूद शेक्सपीयर के और बावजूद मिस प्रभु के।

शुक्रिया। ◆

अपूर्वानन्द : दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रोफेसर हैं, विभिन्न सामाजिक मुद्दों पर सक्रिय हैं और साहित्यिक समालोचक हैं।

(यह सातवां हेमलता प्रभु मेमोरियल व्याख्यान था। जो 23 अप्रैल 2018 को जयपुर के जवाहर कला केन्द्र में दिया गया। शिक्षा विमर्श को इसे उपलब्ध करवाने के लिए मिस प्रभु के दोस्तों, परिवार, छात्र-छात्राओं, पीयूसीएल राजस्थान, बोध शिक्षा समिति व रोशन आरा ट्रस्ट के आभारी हैं। इसे उपलब्ध करवाने में तकनीकी मदद के लिए रमेश अशर के आभारी हैं।)